भवति स्म भो ! भावतो भवति भवभवकृतशुभतो भावतः।
न्विदं विभो ! विभावतो वियुतो भवोभवो भावतः।।

हे भो ! विभो ! भावतः भावतः भवति नु इदं (वात्सल्यं) भवभवकृतशुभतः
भवति स्म अतः भावतः विभावतः वियुतः अभवः भवः (अस्ति)।

वात्सल्य तो जनम से तुम में भरा था,
सौभाग्य था सुकृत का झरना झरा था।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव तभी हुए हो,
शुद्धात्म में प्रभव वैभव पा लिया हो।।६८।।

अर्थ – भो विभो ! हे भगवन् ! सहज रूप से, जन्म से ही आप में यह वात्सल्य अनेक भवों में किये पुण्य योग से प्रकट हुआ था। अतः संसार एवं विभावपरिणति से रहित अभव–जन्मातीत भव–सिद्धपर्याय प्राप्त होती है।।६८।।

ननु रविरिव पयोऽङ्ग तं पयोजचयं प्रति पयः पयोगतम्।
भूतमपापयोग तन्मनोस्त्वकं मे कृपया गतम्।।

उ ! अङ्ग ! अपापयोग ! तं पयोजचयं प्रति रविः पयोगतं पयः प्रति पयः इव
अकं गतं भूतं (प्रति) मे तत् मनः कृपया (सह) अस्तु।

बन्धुत्व को जलज के प्रति भानू धारा,
मैत्री रखे सुजल में वह दुग्ध धारा।
'स्वामी ! परन्तु जग के सब प्राणियों में,
वात्सल्य हो, न मम केवल मानवों में।।६९।।

अर्थ – हे अशुभोपयोग से रहित ! प्रसिद्ध कमलसमूह के प्रति सूर्य के समान तथा दूध में मिले पानी के प्रति दूध के समान दुःखी प्राणी के प्रति मेरा वह मन करुणा से युक्त हो।।६९।।

मनोहरं मदोन्मत्तं मनो हरं हरिंनय।
एनोहरं न्वदो वित्तं रं नो ह्यरं ह्यरिं श्रय।।

उ ! (त्वं) मदोन्मत्तं मनः मनोहरं हरिं हरं एनोहरं (प्रथमं) नय नु अदः
(वात्सल्यं) वित्तं अरं श्रय नो हि रं अरिं (श्रय) हि (पादपूर्तौ)।

उन्मत्त होकर कभी मन का न दास,
हो जा उदास सबसे बन वीर दास।
वात्सल्यरूप सर में डुबकी लगाले,
ले ले सुनाम 'जिनका' प्रभु गीत गा ले।।१००।।

अर्थ – हे आत्मन् ! तू यह वात्सल्यभाव सब से पहले मदोन्मत्त मन को, मन को हरण करने वाले सिंह को और पाप को हरने वाले हर को प्राप्त कराओ। इस वात्सल्य रूप धन का तू शीघ्र ही आश्रय ले, कामाग्नि रूप शत्रु का आश्रय मत ले।।१००।।

गुरुस्मरणम्
श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव,
यद् 'भावनाशतककाव्य' - मघारिहन्तृ!
अध्यास्य सुश्रयमतोऽस्य सुशस्यकस्य,
विद्यादिसागरतनुर्लघु ना भवामि।।

(अयम्) श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाकः एव यत् अघारिहन्तृ
भावनाशतककाव्यम् (मया रचितम्) अतः सुशस्यकस्य अस्य
सुश्रयम् अध्यास्य ना अहम् लघु विद्यासागरतनुः भवामि।

गुरु-स्मृति
आशीष लाभ यदि मैं तुमसे न पाता,
तो भावनाशतक काव्य लिखा न जाता।
हे ज्ञानसागर गुरो! मुझको संभालो,
विद्यादिसागर बना तुममें मिला लो।।१०१।।

अर्थ – यह श्री ज्ञानसागर महाराज की कृपा का फल है कि मेरे द्वारा पापरूप शत्रुओं को नष्ट करने वाला 'भावनाशतक' नाम का काव्य बन सका। अतः अतिशय प्रशंसनीय आत्मावाले इन गुरु का आश्रय प्राप्त कर मैं एक साधारण मनुष्य शीघ्र ही विद्यासागर हो रहा हूँ।

मंगल कामना

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।।१।।

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार।।२।।

सागर वो कचना तजे, समझ उसे निस्सार।
गलती करता क्यों भला, तू अघ को उर धार।।३।।

रवि सम पर उपकार में, रहो विलीन सदैव।
विश्व शान्ति वरना नहीं, यों कहते निजदेव।।४

रग–रग से करुणा झरे दुखीजनों को देख।
चिर रिपु लख ना नयन में, चिता रुधिर की रेखा।।५।।

तन–मन–धन से तुम सभी, पर का दुःख निवार।
शम–दम–यम युत हो सदा, निज में करो विहार।।६।।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष।।७।।

सुनीति-शतक

शिवसुखं प्रमुखं सुसमागमः, स्मृतिरियं तव चास्तु समागमः।
कुमतये कुदृशा तु समागमः, स्वपरतेरुपयातु स मा गमः।।

हे जिनवर ! तव चरण समागम सुरसुख शिवसुख शान्त रहा,
तव गुण गण का सतत स्मरण ही परमागम निभ्रान्त रहा।
विषय रसिक हैं कुधी रहे हैं अनुपम अधिगम नहीं मिले,
विरहित रति से रहूँ इसी से बोध कला उर सही खिले।।१।।

अर्थ – हे भगवन् ! श्रेष्ठ मोक्षसुख, सत्समागम, आपका ध्यान और समीचीन शास्त्र प्राप्त हों किन्तु कुबुद्धि के लिये मिथ्यादृष्टि के साथ समागम और तीव्र विद्वेष का प्रसिद्ध मार्ग प्राप्त न हो।।१।।

वियति को वियतिर्वियुतोऽयतः, गतियतिं ह्यगतो यतितोयतः।
शकलतो विकलं कलशंकरं, किल यजे सकलं ह्यनिशं करम्।।

नभ में रवि सम यतनशील हैं यति नायक सुखकारक हैं,
ज्ञान-भाव से भरित-झील हैं श्रुतिकारक-दुखहारक हैं।
सकल विश्व को सकल ज्ञान से जान रहे शिवशंकर हैं,
गति-मति-रति से रहित रहे हैं हम सब उनके किंकर हैं।।२।।

अर्थ – जो आकाश में सूर्य के समान गतिशील हैं, यतियों में श्रेष्ठ हैं, जो कर्मोदय से रहित हैं अथवा अय–शुभावह विधि से वियुत–विशेषरूप से सहित हैं, गतियति–ज्ञान की विश्रान्ति से रहित हैं अर्थात् अनन्तज्ञान से संपन्न हैं, यतितोयतः – इन्द्रिय दमनरूप जल से सहित हैं और अखण्ड – समस्त विश्व को जानने वाले हैं उन सकल – परमौदारिक शरीर से सहित कर – सुखदायक, शान्तिविधायक जिनेन्द्र की मैं पूजा करता हूँ।।२।।

शुचिचिते श्रमणोऽत्र समानतः, सुखशुभाशुभ दुःख समानतः।
सयम-संयमभावविभावतः, श्रयमयेऽन्वितिरस्तु विभावतः।।

दुख में, सुख में तथा अशुभ-शुभ में नियमित रखते समता,
शुचितम चेतन को नमते हैं श्रमण, श्रमणता से ममता।
यम-संयम-दम-शम भावों की लेता सविनय शरण अतः,
विभाव-भावों दुर्भावों का क्षरण शीघ्र हो मरण स्वतः।।३।।

अर्थ – इस जगत् में श्रमण–साधु निर्मल चैतन्यस्वभाव के लिये समानत–नम्रीभूत है अर्थात् उसके लिये निरन्तर उद्यमशील हैं। सुख, दुःख, शुभ और अशुभ अवस्था में समानता से सहित हैं; अतः जीवनपर्यन्त के लिये धारण किये हुए सयमभाव के प्रभाव से आश्रय देने वाले उन विभु में मेरी अन्विति–अनुगति–भक्ति हो।।३।।

समवलम्ब्य सतीं शुचिशारदां, विषयमार्दववल्लितुषारदाम्।
यदिति पारिषहं शतकं वदे, बुधमुदेऽघभिदे शितसंविदे।।

मृदुल विषयमय लता जलाती शीतलतम हिमपात वही,
शान्त शारदा, शरण उसी की ले जीता दिन-रात सही।
'शतक परीषह-जय' कहता बस मुनिजन, बुधजन मन हरसे,
मूल सहित सब अघ संघर से ज्ञान-मेघ फिर झट बरसे।।४।।

अर्थ – विषयरूपी कोमल लताओं को तुषार देने वाली प्रशस्त जिनवाणी का आश्रय ले, मैं जिस परिषहशतक को कह रहा हूँ वह विज्ञजनों के हर्ष के लिये, पापों के विनाश के लिये और उज्ज्वल ज्ञान के लिये होवे।।४।।

समुदितेऽसति वै सति मे विधौ, क्षुदनुभूतिरियं प्रथमे विधौ।
विधि - फलं ह्युदितं समयेऽयति, समतया सह यत्सहते
यतिः।।

उदय असाता का जब होता उलटी दिखती सुखदा है,
प्रथम भूमिका में ही होती क्षुधा वेदना दुखदा है।
समरस रसिया ऋषि समता से सब सहता निज ज्ञाता है,
सब का सब यह विधि फल तो है 'समयसार' सुन ! गाता है।।५।।

अर्थ – मेरे अशुभकर्म का उदय रहते हुए प्रारम्भिक भूमिका में यह क्षुधा की अनुभूति हो रही है उदयागत कर्म का फल समय आने पर चला जाता है – नष्ट हो जाता है ऐसा विचार कर साध J समताभाव से क्षुधापरिषह को सहन करते हैं।।५।।

भवतु सा तु सतां वरभूतये, सुगतये विधिसंवरभूतये।
कुगतये कुधियां किल कारणं, विषयतोऽसुखि चैतदकारणम्।।

क्षुधा परीषह सुधीजनों को देता सद्गति सम्पद है,
और मिटाता नियमरूप से दुस्सह विधिफल आपद है।
कुधीजनों को किन्तु पटकता कुगति कुण्ड में कष्ट! अहा!
विषय रसिक हो दुखी जगत है सुखी जगत कह स्पष्ट रहा।।६।।

अर्थ – वह क्षुधापरिषह साधुओं को उत्कृष्ट संपत्ति के लिये, देवादिगति की प्राप्ति के लिये तथा कर्मों के संवररूप विभूति के लिये होता है परन्तु अज्ञानीजनों को दुर्गति के लिये होता है। यह जगत् विषयों से अकारण ही दुःखी हो रहा है।।६।।

कनकतां दृशदोऽनलयोगतः, शुचिमिता अनया मुनयो गतः।
अभिनुता जितचित्तभुवा क्षुधा, शिवपथीत्युदिता निजवाक्षु धा।।

कनक, कनकपाषाण नियम से अनल योग से जिस विध है,
क्षुधा परीषह सहते बनते, शुचितम मुनिजन उस विध है।
क्षुधा विजय सो काम विजेता मुनियों से भी वन्दित है,
शिव-पथ पर पाथेय रहा है जिन मत से अभिनन्दित है।।७।।

अर्थ – जिस प्रकार अग्नि के संयोग से स्वर्णपाषाण स्वर्णता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस क्षुधापरीषह के योग से मुनि शुचिता–निर्मलता को प्राप्त हुए हैं। कामविजेता मुनियों ने मोक्षमार्ग में इस क्षुधापरीषह की संस्तुति की है। ऐसा ब्रह्मा-जिनेन्द्रदेव ने अपनी वाणी में कहा है।।७।।

ननु कृतानशनेन तु साधुना, ह्यसमयेऽप्यशनं न हि साधु ना।
स्वसमये वचसा शुचि साधुना, निगदितं शृणु तन्मनसाऽ धुना।।

आगम के अनुकूल किया यदि किसी साधु ने अनशन है,
असमय में फिर अशन त्याज्य है अशन कथा तक अशरण है।
वीतराग सर्वज्ञ देव ने आगम में यों कथन किया,
श्रवण किया कर सदा उसी का, मनन किया कर, मथन जिया।।८।।

अर्थ – निश्चय से उपवास करने वाले साधु को असमय में – चर्या के प्रतिकूल समय में निरवद्य भी आहार नहीं लेना चाहिये, ऐसा वीतराग साधु–जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में वचन द्वारा कहा है। उसे तुम इस समय मन लगाकर सुनो।।८।।

अनघतां लघुनैति सुसंगतां, सुभगतां भगतां गतसंगताम्।
जितपरीषहकः सह को विदा, विदुरिहाप्यघकासह ! कोविदाः।।

स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन सुरपुर में वर सुरसुख है,
उन्हें शीघ्र से मिलता शुचितम शाश्वत भास्वत शिवसुख है।
वीतराग विज्ञान सहित जो क्षुधा परीषह सहते हैं,
दूर पाप से हुए आप हैं बुधजन जग को कहते हैं।।९।।

अर्थ – हे पाप को न सहन करने वाले मुनिराज ! परीषहों को जीतने वाला जीव, इसी लोक में शीघ्र ही निष्पापता, सत्संगति, सौभाग्यशालिता, ऐश्वर्यसंपन्नता, और निर्ग्रन्थता को, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् जानते हैं, कहते हैं।।९।।

निजतनोर्ममता वमता मता, मतिमता समता नमता मता।
विमलबोधसुधां पिबताञ्जसा, व्यथति तं न तृषा सुगताज ! सा ।।

पाप-ताप का कारण तन की ममता का बस वमन किया,
शमी-दमी, मतिमान मुनी ने समता के प्रति नमन किया।
विमल बोधमय सुधा चाव से तथा निरन्तर पीता है,
उसे तृषा फिर नहीं सताती सुखमय जीवन जीता है।।१०।।

अर्थ – हे आत्मज्ञ ! शरीर की ममता को छोड़ने वाले, भेदविज्ञान से सहित, समता के प्रति नम्रीभूत और यथार्थरूप से निर्मलज्ञानामृत का पान करने वाले मुनि ने जिसे स्वीकृत किया है वह तृषा तथोक्त कार्य करने वाले मुनि को पीड़ित नहीं करती।।१०।।

शमवतोऽत्र यतेर्भवतो यतः, सभयतां गुणिनश्च सतो यतः।
लसति मा पुरतो मुदिता सती, तदसहेति तृषा कुपिताऽसती।।

कषाय रिपु का शमन किया है सने स्वरस में गुणी बने,
नम्र नीत, भवभीत रीत हो अघ से, तप के धनी बने।
मुक्ति रमा आ जिनके सम्मुख नाच, नाचती मुदित हुई,
मनो इसी से तृषा जल रही ईर्ष्या करती कुपित हुई।।११।।

अर्थ – यतश्च इस जगत् में प्रशमगुण से सहित, संसार से भयभीत एवं अनेक गुणों से युक्त मुनि के आगे मुक्तिलक्ष्मी प्रसन्न होती हुई विलसती है। अतः उसे सहन न करने वाली तृषारूपी स्त्री

कुपित होकर मुनि के पास नहीं रहती। ईर्ष्यावश मुनि के पास नहीं आती।।११।।

नहि करोति तृषा किल कोपिनः, शुचिमुनीनितरो भुवि कोऽपि न।
विचलितो न गजो गजभावतः, श्वगणकेन सहापि विभावतः।।

निरालम्ब हो, स्वावलम्ब हो, जीवन जीते मुनिवर हैं,
कभी तृषा या अन्य किसी वश कुपित बनें ना; मतिवर हैं।
श्वान भौंकते सौ-सौ मिलकर पीछे - पीछे चलते हैं,
विचलित कब हो गजदल आगे ललित चाल से चलते हैं।।१२।।

अर्थ – पृथ्वी पर निर्दोषचर्या करने वाले मुनियों को पिपासा तथा अन्य कोई भी पदार्थ कुपित नहीं करता। जैसे हाथी कुक्कुरसमूह के द्वारा तंग किये जाने पर भी क्रोधवश अपने गजस्वभाव–गम्भीर भाव से विचलित नहीं होता।।१२।।

शमनिधौ निजचिद्विमलक्षिते-र्व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते।
यदि यमी तृषितः सहसा गरेऽ-वतरतीव शशी किल सागरे।।

व्यय - उद्भव, ध्रुव-लक्षण से जो परिलक्षित है खरा रहा,
चिन्मय गुण से रचा गया है, समरस से है भरा रहा।
मनो कभी मुनि तृषित हुआ औ निज में तब अवगाहित हो,
जैसा सागर में शशि होता निश्चित सुख से भावित हो।।१३।।

अर्थ – यदि कदाचित् मुनि कण्ठ में तृषा से युक्त होता है अर्थात् प्यास से उसका गला सूखता है तो वह अपने चैतन्यरूप निर्मल वसुधा के भीतर विद्यमान एवं व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य लक्षण से सहित प्रशमरस के भण्डार में उस प्रकार शीघ्र अवगाहन करता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा समुद्र में।।१३।।

व्यथितनारकिणोऽपि पिपासवः, कलितकण्ठगतापकृपासवः।
इति विचार्य मुनिस्तदपेक्षया, मयि विपन्नयुतोऽयमुपेक्षया।।

रव-रव नरकों में वे नारक तृषित हुये हैं, व्यथित हुये,
सदय हृदय ना अदय बने हैं प्राण कण्ठगत मथित हुये।
उस जीवन से निज जीवन की तुलना कर मुनि कहते हैं,
वहाँ सिन्धु सम दुःख रहा तो यहाँ बिन्दु हम सहते हैं।।१४।।

अर्थ– जिनके निर्दय प्राणकण्ठगत हो रहे हैं ऐसे प्यास से युक्त पीड़ित नारकी भी तो हैं उनकी अपेक्षा मेरी विपत्ति कोई विपत्ति नहीं है, ऐसा विचार कर मुनि प्यास के प्रति उपेक्षा से सहित है अर्थात् प्यास दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते।।१४।।

चलतु शीततमोऽपि सदागति-रमृतभावमुपैतु सदागतिः।।
जगति कम्पवती रसदा गतिः, स्खलति नो वृषतोऽपि
सदागतिः।।

शीत-शील का अविरल-अविकल बहता जब है अनिल महा ,
ऐसा अनुभव जन-जन करते अमृत मूल्य का अनल रहा।
पग से शिर तक कपड़ा पहना कप-कप कपता जगत रहा ,
किन्तु दिगम्बर मुनि से नहिं विचलित हो मुनि-जगत रहा।।१५।।

अर्थ– अत्यन्त शीत वायु चले, अग्नि अमृतभाव को प्राप्त हो और जगत् में जीवों की दशा कम्पन से युक्त तथा शरीर को विदीर्ण करने वाली भले ही हो तो भी मुनि धर्म से विचलित नहीं होता।।१५।।

तरुणतोऽरुणतः किरणावली , प्रशमिता सविता सगुणाऽवली।
गुरुनिशा लघुतां दिवसं गतं, मुनिरितः स्ववशं ननु संगतम्।।

तरुण-अरुण की किरणावलि भी मन्द पड़ी कुछ जान नहीं,
शिशिर वात से ठिठुर शिथिल हो भानु उगा पर, भान नहीं।
तभी निशा वह बड़ी हुई है लघुतम दिन भी बना तभी,
पर परवश मुनि नहीं हुआ है सो मम उर में ठना अभी।।१६।।

अर्थ– शीत की अधिकता के कारण ही मानों मध्याह्न के सूर्य की किरणावली शान्त हो गई। स्वकीय गुणावली से सहित सूर्य शान्त हो गया, रात बड़ी और दिन छोटा हो गया, तो भी मुनि निश्चय से स्वाधीन संगति को ही प्राप्त रहे अर्थात् शीत निवारक परपदार्थों के अधीन नहीं हुए।।१६।।

विमलचेतसि पूज्ययतेः सति, महसि सत्तपसि ज्वलिते सति।
किमु तदा हि बहिर्हिमपाततः, सुखितजीवनमस्य मपाः ततः।।

यम-दम-शम-सम से मुनि का मन अचल हुआ है विमल रहा,
महातेज हो धधक रहा है जिसमें तप का अनल महा।
बाधा क्या फिर बाह्य गात पे होता हो हिमपात भले,
जीवन जिनका सुखित हुआ हम उन पद में प्रणिपात करें।।१७।।

अर्थ– पूज्य मुनिराज के प्रशस्त निर्मल चित में जब समाचीन तपरूपी तेज देदीप्यमान हो रहा है तब बाह्य में बर्फ के पड़ने से उसे क्या चिन्ता है ? इसका जीवन तो उस समय भी सुखी रहता है इस कारण हे साधो ! तुम ब्रह्मरूप आत्मा के रक्षक होओ।

नभसि कृष्णतमा अभयानकाः, सतडितः सजलाश्च भयानकाः।
अशनिपाततयाप्यचलाश्चलाः, स्थिरमटेच्च मुनिं ह्यचला चलाः।।

भय लगता है नभ में काले जल वाले घन डोल रहे,
बीच-बीच में बिजली तड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे।
वज्रपात से चूर हो रहे अचल, अचल भी चलित हुए,
फिर भी निश्चल मुनि रहते हैं शिव मिलता, सुख फलित हुए।।१८।।

अर्थ – आकाश में कौंदती हुई बिजली से सहित जलयुक्त, भयोत्पादक, काले–काले गर्जते हुए मेघ भले ही छाये रहें, वज्रपात से पर्वत भी चंचल हो उठे और अचला––पृथिवी भी चला हो जावे––कॉप उठे तो भी हे अभय ! मुनि को स्थिर ही पाते हैं। तथोक्त उपसर्गों के कारण मुनि कभी भी विचलित नहीं होते।।१८।।

तपनता तपनस्य निदाघिका, व्रतवते स्ववते न निदाऽधिका।
समुचितं सवितुः प्रकराः कराः, सलिलजाय सदा प्रखराः कराः।।

चण्ड रहा मार्तण्ड ग्रीष्म में विषयी-जन को दुखद रहा,
आत्मजयी ऋषि वशीजनों को दुखद नहीं शिव सुखद रहा।
प्रखर, प्रखरतर किरण प्रभाकर की रुचिकर ना कण-कण को,
कोमल-कोमल कमलदलों को खुला खिलाती क्षण-क्षण को।।१९।।

अर्थ – सूर्य की ग्रीष्म कालीन तपनता आत्मविजयी मुनि के लिये दुःखप्रद नहीं होती यह उचित ही है क्योंकि सूर्य की अत्यन्त तीक्ष्ण किरणें कमल के लिये सदा सुखदायक होती हैं।।१९।।

सरसि जन्तुसभा न कतापतः, सरसिजं तु कुतोऽम्बु वितापतः।
इयति घर्मणि शान्तिसुधारक-स्तदवरोधन भाव विदारकः।।

सरिता, सरवर सारे सूखे सूरज शासन सक्त रहा,
सरसिज, जलचर कहाँ रहें फिर? जीवन साधन लुप्त रहा।
इतनी गरमी घनी पड़ी पर; करते मुनि प्रतिकार नहीं,
शान्ति सुधा का पान करें नित तन के प्रति ममकार नहीं।।२०।।

अर्थ – सूर्य के संताप से सरोवर में जलचरों का समूह नहीं रहा। ताप की अधिकता से जल सूख गया फिर कमल कैसे रह सकता है? ऐसी गर्मी में शान्ति के धारक मुनि, उस गर्मी के रोकने वाले भाव को भी दूर करते हैं अर्थात् गर्मी को दूर करने का भाव भी नहीं करते हैं।।२०।।

त्रिपथगाम्बु सुचन्दनवासितं, शशिकलां सुमणिं ह्यथवा सितम्।
प्रकलयन्ति न धर्मसुशान्तये, भुवि मता मुनयो जिनशान्त! ये।।

सुरमा, काजल, गंगा का जल, मलयाचल का चन्दन है,
शरद चन्द्र की शीतल किरणें मणि माला, मनरंजन है।
मन में लाते तक ना इनको, शान्त बनाने तन-मन को,
मुनि कहलाते पूज्य हमारे जिनवर कहते भविजन को।।२१।।

अर्थ -- हे शान्तिजिनेन्द्र ! पृथिवी पर जो निर्ग्रन्थ मुनि माने गये हैं वे गर्मी की बाधा शान्त करने के लिये न चन्दनसुवासित गंगाजल की, न चन्द्रकला की और न शुक्ल चन्द्रकान्तमणि की इच्छा करते हैं – इनका सेवन करते हैं।।२१।।

पतितपत्रकपादपराजितं, प्रतिवनं रविपादपराजितम्।
मुनिमनो नु ततोऽस्त्वपराजितं, नमति चैष तकं स्वपराजितम्।।

महाप्रतापी, भू-नभ तापी अभिशापी रवि बना रहा,
वन हारे, तरु सारे-खारे पत्र फूल के बिना अहा!
किन्तु पराजित नहीं मुनीश्वर जित-इन्द्रिय हो राजित हैं,
हृदय-कमल पर उन्हें बिठाऊं त्रिभुवन से आराधित हैं।।२२।।

अर्थ–जब प्रत्येक वन पत्ररहित वृक्षों से युक्त तथा सूर्य की किरणों से पराभूत होता है तब मुनि का मन उससे अपराजित रहता है। उस शुष्क वन से भयभीत नहीं होता, किन्तु स्वप–राजित–आत्म रक्षक गुणों से सुशोभित रहता है। उन मुनि को यह स्तोता नमन करता है।।२२।।

परिषहं कलयन् सह भावतः, स हतदेहरुचिर्निजभावतः।
परमतत्त्वविदा कलितो यतिः, जयतु मे तु मनः फलतोऽयति।।

तन से, मन से और वचन से उष्ण-परीषह सहते हैं,
निरीह तन से हो निज ध्याते बहाव में ना बहते हैं।
परम तत्त्व का बोध नियम से पाते यति जयशील रहे,
उनकी यशगाथा गाने में निशिदिन यह मन लीन रहे।।२३।।

अर्थ -- आत्मस्वभाव में विद्यमान होने से जिनकी शरीर सम्बन्धी प्रीति नष्ट हो चुकी है, जो समीचीन अभिप्राय -- ख्यातिलाभादि की भावना से रहित मन से परिषह को सहन कर रहे हैं तथा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान से सहित हैं वे मुनि जयवंत हों। इसके फलस्वरूप वे मुनि मेरे मन को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् मैं उनका निरन्तर ध्यान करता हूँ।।२३।।

विषधरैर्विषमैर्विषयातिगः, परिवृतो व्रतवानदयातिगः।
नहि ततोऽस्य तु किंचन मानसं, कलुषितं किल
तच्छुचिमानसम्।।

विषयों को तो त्याग-पत्र दे व्रतधर शिवपथगामी हैं,
मत्कुण मच्छर काट रहे अहि, दया-धर्म के स्वामी हैं।
कभी किसी प्रतिकूल दशा में मुनिमानस नहिं कलुषित हो,
शुचितम मानस सरवर-सा है सदा निराकुल विलसित हो।।२४।।

अर्थ – पञ्चेन्द्रियों के विषयों से रहित दयालुमुनि, यद्यपि विषम विषधरों – सर्पों से वेष्टित रहते हैं तथापि इनका पवित्र मन रूपी मानसरोवर उनसे कुछ भी कलुषित नहीं होता।।२४।।

असुमतः प्रति यो गतवैरतः, शुभदयागुणके सति वै रतः।
व्यथित नो मनसा वचसाङ्गतः, सदसि पूज्यपदं विदुषांगतः।।

चराचरों से मैत्री रखते कभी किसी से बैर नहीं,
निलय दया के बने हुए हैं नियमित चलते स्वैर नहीं।
तन से, मन से और वचन से करें किसी को व्यथित नहीं,
सुबुध जनों से पूजित होते मान-गान से सहित सही।।२५।।

अर्थ – जो मुनि प्राणियों के प्रति वैर रहित होने से निश्चयतः श्रेष्ठ दयागुण में लीन रहते हुए मन, वचन, काय से दुःखी नहीं होते, वे विद्वानों की सभा में पूज्य स्थान को प्राप्त होते हैं।।२५।।

रुधिरकं तु पिबन्ति पिबन्तु ते, स्तुतिसुधां सुखिनोऽज पिबन्तु ते।
मम न हानिरिहास्ति हि वस्तुतः, इति तनोः पृथगस्मि भवस्तुत !।।

मत्कुणं आदिक रुधिर पी रहे पी लेने दो जीने दो,
तव शुभ स्तुति की सुधा चाव से मुझे पेट भर पीने दो।
तीन लोक के पूज्य पितामह ! इससे मुझको व्यथा नहीं,
यथार्थ चेतन पदार्थ मैं हूँ तन से 'पर' मम कथा यही।।२६।।

अर्थ – हे भवस्तुत ! अज ! हे समस्त संसार के द्वारा स्तुत ब्रह्मन् ! यदि वे खटमल तथा मच्छर आदि कुछ रुधिर पीते हैं तो पियें और वे सुखीजन यदि स्तुतिरूपी अमृत पीते हैं तो पिये, इस विषय में परमार्थ से मेरी हानि नहीं है; क्योंकि मैं शरीर से पृथक् हूँ।।२६।।

मशकदंशकमत्कुणकादयः, प्रविकलाः क्षुधिता अनकादय !
स्वकममी प्रभजंतु नु कं कदा, त्विति सतामनुचिंतनकं कदा।।

दंश मसक ये कीट पतंगे पल भर भी तो सुखित नहीं,
पाप पाक से पतित पले हैं क्षुधा, तृषा से दुखित यही।
कब तो इनका भाग्य खुले कब निशा टले, कब उषा मिले,
सन्त सदा यों चिंतन करते दिशा मिले, निज दशा खिले।।२७।।

अर्थ -- हे अनकादय ! हे पाप और अदया से रहित जिनदेव ! जो डांश, मच्छर तथा खटमल आदि जीव क्षुधा से युक्त हो अत्यन्त विकल दुखी हो रहे है ये अपने सुख को कब प्राप्त हों, साधुओं का ऐसा चिन्तन कब हो।।२७।।

स्वपददं च पदं हि दिगम्बरं, निरुपयोग्यघदं तु धिगम्बरम्।
इति विचार्य विमुञ्चितपाटकाः, शिवपथेऽत्र जयन्तु नपाटकाः।।

निरा, निरापद, निजपद दाता यही दिगम्बर पद साता,
पाप-प्रदाता आपद-धाता शेष सभी पद गुरू गाता।
हुए दिगम्बर अम्बर तजकर यही सोच कर मुनिवर हैं,
शिवपथ पर अविरल चलते हैं हे जिनवर! तव अनुचर हैं।।२८।।

अर्थ – निश्चय से दिगम्बर पद ही आत्मपद–मोक्ष को देने वाला है। किन्तु अनुपयोगी तथा पाप को देने वाले वस्त्र को धिक्कार हो। ऐसा विचार कर जिन्होंने वस्त्र का परित्याग किया है ऐसे दिगम्बर साधु मोक्षमार्ग में जयवन्त रहें।।२८।।

कृतकृपा निजके च्युतवासना, हृततृपास्तु विसर्जितवासनाः।
समुपयान्तु शिवं ह्यभवं तु ते, धृतपटा मुनयो न भवन्तु ते।।

अपने ऊपर पूर्ण दया कर विषय-वासना त्याग दिया,
नग्न परीषह सहते तजकर वस्त्र, निजी में राग किया।
अनुपम, अव्यय वैभव पाते लौट नहीं भव में आते,
वस्त्र वासना जो ना तजता भ्रमता भव-भव में तातैं।।२९।।

अर्थ -- ओ निज आत्मा पर दयालु हैं अर्थात् उसे विषय प्रपञ्च से दूर रखते हैं, जिन्होंने विषयों की वासना–संस्कार छोड़ दिये हैं, जो लज्जा से रहित हैं तथा वस्त्र समूह से रहित हैं, वे निश्चय से मोक्ष को तथा जन्माभाव को प्राप्त हों। इनके विपरीत जो वस्त्रधारक हैं वे परमार्थ से मुनि नहीं हैं और मुक्ति एवं जन्माभाव को प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं।।२९।।

जगदिदं द्विविधं खलु चेतनं, यदितरं स्वयमेव विचेतनम्।
विविधवस्तुनिकायनिकेतनं, शृणु निरावरणं हि निकेतनम्।।

ाहाँ अचेतन पुद्गल आदिक निज-निज गुण के केतन हैं,
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं ज्ञान निलय हैं, चेतन हैं।
यथार्थ में तो पदार्थ दल से भरा जगत् यह शाश्वत है,
निरावरण हैं, निरा दिगम्बर स्वयं आप 'बस' भास्वत हैं।।३०।।

अर्थ – यह जगत् चेतन अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो चेतन अथवा अचेतन है वह स्वयं तथाभूत है। अर्थात् चेतन अचेतन रूप और अचेतन चेतन रूप नहीं हो सकता। सब अपने अपने नियत लक्षणों से युक्त हैं। समस्त वस्तु समूह के घर स्वरूप यह जगत् निरावरण है–पर के आवरण से रहित है अतः मुनि को भी निरावरण रहना प्रकृति सिद्ध है। हे भव्य ! इस रहस्य

को तू सुन, समझ तथा अंगीकृत कर।।३०।।

अत इतो न घृणां कुरुते मनो, भुवि मुदार्षिरिदं ह्ययते मनो!
कुलहितं तनुजं जननीहते, भवति शोकवती गुणिनी हते।।

बिना घृणा के नग्नरूप धर मुनिवर प्रमुदित रहते हैं,
भवदुःखहारक, शिवसुखकारक, दुस्सह परिषह सहते हैं।
लालन-पालन, लाड़-प्यार से सुत का करती ज्यों जननी,
कुलदीपक यदि बुझता है तो रुदन मचाती है गुणिनी।।३१।।

अर्थ – हे मनो ! इसलिये मुनि का मन इस नाग्न्यव्रत की ओर घृणा नहीं करता है। पृथिवी पर मुनि इसे हर्ष से प्राप्त होते हैं – धारण करते हैं। जिस प्रकार गुणवती माता कुल का हित करने वाले पुत्र की इच्छा करती है, उसका लालन पालन करती है और उसके नष्ट हो जाने पर शोकयुक्त होती है। इसी प्रकार मुनि नाग्न्यव्रत की इच्छा करते हैं–उसका निर्दोष पालन करते हैं और उसमें बाधा आने पर दुखी होते हैं।।३१।।

करणमोदपदार्थरसं प्रति, विरतिभावयुतो भुवि सग्प्रति।
सुविजितोऽरतिनाम परीषहः, करुणयाह कवाक् तु करी सह।।

इन्द्रिय जिनसे चंचल होती सब विषयों से निरत हुए,
इन्द्रियविजयी, विजितमना हैं निशिदिन निज में विरत हुए
अविरति रति से मौन हुये हैं अरति परीषह जीत रहें,
जिनवर वाणी करुणा कर-कर कहती यों भवभीत रहे।।३२।।

अर्थ -- पृथिवी पर निर्ग्रन्थमुद्रा के समय जो मुनि, इन्द्रियों को हासत करने वाले पदार्थों के रस के प्रति विरक्तिभाव से सहित होता है अर्थात् अनुकूल रस वाले पदार्थों के स्वाद में अनुरक्त नहीं होता है उसके द्वारा अरतिनाम का परिषह सुख से जीता जाता है ऐसा कर्तव्य का निर्देश करने वाली जिनवाणी दयापूर्वक कहती है।।३२।।

विकृतरूपशवादिकदर्शनात्, पितृवने च गजाहित गर्जनात्।
अरतिभाव-मुपैति न कंचन, समितभावरतोऽञ्चतु क च न !।।

सड़ा-गला शव मरा पड़ा जो बिना गड़ा, अधगड़ा जला,
भीड़ चील की चीर-चीरकर जिसे खा रही हिला-हिला।
दृश्य भयावह लखते, सुनते गजारिगर्जन मरघट में,
किन्तु ग्लानि, भय कभी न करते, रहते मुनिवर निज घट में।।३३।।

अर्थ – हे जिन ! जो मुनि श्मशान में विकृत रूप -- सड़े गले मृतक शरीर के देखने और हाथियों की अहितकारी–भयावह गर्जना से कुछ भी अरतिभाव--अप्रीति भाव को प्राप्त नहीं होता; साम्यभाव में लीन रहने वाला वह मुनि, सुख को प्राप्त हो।।३३।।

विरमति श्रुततो ह्यघकारतः, वचसि ते रमते त्वविकारतः।
स्मृतिपथं नयतीति न भोगकान्, विगतगावितकांश्च विमोऽघकान्।।

विषय वासना जिनसे बढ़ती उन शास्त्रों से दूर रहें,
विराग बढ़ता जिनसे उनको पढ़ें साम्य से पूर रहें।
विगत काल में भोगे भोगों कभी न मन में लाते हैं,
प्राप्तकाल सब सुधी बिताते निजी रमन में तातैं हैं।।३४।।

अर्थ -- हे विभो ! जो मुनि पापकारक शास्त्र से विरत रहता है तथा विकार रहित आपके वचन में–सुशास्त्र में रमण करता है वह पापकारक अतीत–अनागत भोगों का स्मरण नहीं करता।।३४।।

सुविधिना यदनेन विलीयते, मनसिजा विकृतिः किल लीयते।
बलवती शुचिदृक् प्रविजायते, ध्रुवमतो लघुमायमजायते।।

आगम के अनुकूल साधु हो अरति परीषह सहते हैं,
कलुषित मन की भाव-प्रणाली मिटती गुरूवर कहते हैं।
प्रतिफल मिलता दृढ़तम, शुचितम दिव्य-दृष्टि झट खुलती है,
नियम रूप से शिव-सुख मिलता ज्योत्सना जगमग जलती है।।३५।।

अर्थ – जिस कारण मुनि विधिपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होता है, मानसिक विकृति को नष्ट करता है और उसके सुदृढ निर्मल सम्यग्दर्शन होता है अतः उसे संयम से उत्पन्न होने वाली मा–मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही नियम से प्राप्त होती है।।३५।।

मदनमार्दवमानसहारिणी, लसितलोलकलोचनहारिणी।
मुदितमञ्जुमतउड्गंविहारिणी, यदि दृशे किमु सा स्वविहारिणी।।

विशाल विस्फारित मंजुलतम चंचल लोचन वाली हो,
कामदेव के मार्दव मानस को भी लोभन वाली हो।
मुख पर ले मुस्कान मन्दतम गजसम गमनाशीला हो,
उस प्रमदा के वश मुनि ना हो अद्भुत चिन्मय लीला हो।।३६।।

अर्थ – कामदेव के कोमल चित्त को हरने वाली, सुन्दर एवं चञ्चल नेत्रों से मनोहर और प्रसन्न मनोहर हाथी के समान चालवाली स्त्री यदि दृष्टि के लिये प्राप्त होती है अर्थात् देखने में आती है तो निर्ग्रन्थ साधु विचार करता है क्या वह स्त्री स्वविहारिणी है? अपने आप में रमण करने वाली है? अर्थात् नहीं।।३६।।

सततमुक्तचरा मदमोहिता, यदिति या प्रमदाप्तयमोदिता।
यदि वने विजने स्मितभाषया, वदति चास्तु यतिर्न विभाषया।।

सदा, भुक्त, उन्मुक्त विचरती मत्त स्वैरिणी मोहित है,
तभी कहाती प्रमदा जग में बुधजन से अनुमोदित है।
वन में, उपवन में, कानन में, स्मित वदना कुछ बोल रही,
निर्विकार यति बने रहे वे उनकी दृग अनमोल रही।।३७।।

अर्थ – यतश्च जो स्त्री निरन्तर स्वच्छन्द घूमती है और मद से मोहित होती है उसे जिनेन्द्र के संयम में 'प्रमदा' कहा गया है। ऐसी स्त्री मुसक्याती हुई निर्जन वन में सराग वाणी से यदि कुछ कहती है तो साधु अपने पद से विरूद्ध भाषा से युक्त न हो अर्थात् उससे बात न करे।।३७।।

विमलरोचनभासुररोचना, विलसितोत्पलभासुररोचना।
जनयितुं विकृतिं न हि सा क्षमा, ह्यविचलात्र यतौ सरसा क्षमा।।

लाल कमल की आभा सी तन वाली हैं सुर वनिताएँ,
नील कमल सम विलसित जिनके लोचन हैं सुख - सुविधाएँ।
किन्तु स्वल्प भी विषय वासना जगा न सकती मुनि मन में,
सुखदा, समता सती, छबीली क्योंकि निवसती है उनमें।।३८।।

अर्थ – सुशोभित नीलकमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली एवं निर्मल लालकमल के समान कान्ति से युक्त देवांगना भी निर्ग्रन्थ साधु को विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है क्योंकि क्षमा–पृथिवी सरोवर से अविचल ही रहती है।।३८।।

श्रमणतां श्रयता श्रमणेन या, त्वरमिता रमिता भुवनेऽनया।
किमु विहाय सुधीरविनश्वरां, त्विह समामभिवाञ्छति नश्वराम्।।

शीलवती है, रूपवती है, दुर्लभतम है वरण किया,
समता रमणी से निशिदिन जो श्रमण बना है रमण किया।
फिर किस विध वह नश्वर को जो भवदा ! दुःखदा वनिता है,
कभी भूलकर क्या चाहेगा? पूछ रही यह कविता है।।३९।।

अर्थ -- साधुता को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो समता शीघ्र प्राप्त की गई इसके साथ रमण करने वाला ज्ञानी पुरुष इस अविनाशिनी समता को छोड़ क्या विनाशिनी सुन्दर स्त्री की इच्छा करता है? अर्थात् नहीं।।३९।।

कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये, मतिमलाहतये गुणवृद्ध ! ये।
पदविहारिण आगमनेत्रका, धृतदया विमदा भुवनेऽत्र काः।।

कठिन कार्य है खरतर तपना करने उन्नत तपगुण को,
पूर्ण मिटाने भव के कारण चंचल मन के अवगुण को।
दया वधू को मात्र साथ ले वाहन बिन मुनि पथ चलते,
आगम को ही आँख बनाये निर्मद जिनके विधि हिलते।।४०।।

अर्थ -- हे गुणवृद्ध ! इस जगत् में जो आगमरूप नेत्र से युक्त, दयालु और मद से रहित आत्मायें--साधु हैं वे कठिनसाध्य तपरूप गुणों की वृद्धि के लिये एवं बुद्धि सम्बन्धी मल-दोषों को नष्ट करने के लिये पैदल ही विहार करते हैं।।४०।।

अथ निवारितकापदरक्षकाः, श्रममितास्तु निजापदरक्षकाः।
अकुशलाध्वचलत्पदलोहिताः, किमु तदा सुधियोऽन्तरलोहिताः।।

सभी तरह के पाद त्राण तज नग्न पाद से ही चलते,
चलते-चलते थक जाते पर निज पद में तत्पर रहते।
कंकर, कंटक चुभते-चुभते, लहुलुहान पद लोहित हो,
किन्तु यही आश्चर्य रहा है, मुनि का मन ना लोहित हो।।४१।।

अर्थ -- जिन्होंने सब प्रकार के पादत्राण--जूता-चप्पल आदि छोड़ दिये हैं, जो पैदल चलने से खेद को प्राप्त हैं, आपत्ति से अपनी रक्षा--बचाव नहीं करते हैं तथा अकुशल--कण्टकादि से व्याप्त मार्ग में चलने वाले पैरों से लहूलुहान हो रहे हैं, ऐसे विवेकी मुनिराज क्या उस समय अपने अन्तःकरण में लोहित--रागी होते हैं? अर्थात् नहीं।।४१।।

कमलकोमलकौ ह्यमलौ कलौ, ह्यभवतां सुपदौ सबलौ कलौ।
इति विचार्य तनौ भव मा रतः, स्मर कथां सुपदां सुकुमारतः।।

कोमल-कोमल लाल-लालतर युगल पादतल कमल बने,
अविरल, अविकल चलते-चलते सने रुधिर में तरल बने।
मन में ला सुकुमाल कथा को अशुचि काय में मत रचना,
मार मार कर महा बनो तुम यह कहती रसमय रचना।।४२।।

अर्थ – सुकुमाल स्वामी के कमल के समान कोमल, निर्मल और मनोहर सुन्दरचरण कलिकाल में सबल–शक्तिसंपन्न हुए थे, ऐसा विचार कर हे साधो ! शरीर में रत–लीन न होओ, उनकी उत्तमपद–प्रदायिनी अथवा सुन्दरपदावलि से युक्त कथा का स्मरण कर।।४२।।

समधिरोहितबोधसुयानका, स्तनुसुखावहविस्मृतयानकाः।
पथि चलत्स्वतनोः किल दर्शकाः, तयिति सन्तु जयन्तु तु दर्शकाः।।

बोधयान पर बैठ, कर रहे यात्रा यतिवर यात्री हैं,
त्याग चुके हैं, भूल चुके हैं रथवाहन, करपात्री हैं।
पथ पर चलता तन को केवल देख रहे पथ दर्शाते,
सदा रहें जयवन्त सन्त वे नमूँ उन्हें मन हर्षाते।।४३।।

अर्थ – जो सम्यग्ज्ञानरूपी सवारी पर अधिरूढ हैं, शरीर के सुखदायक वाहनों को भूल चुके हैं तथा मार्ग में चलते हुए शरीर को जो दिखाते हैं अर्थात् देखने वालों से किसी प्रकार की सहायता की इच्छा नहीं करते, किन्तु यही चाहते हैं कि दर्शक लोग भी इसी तरह पद विहार करने वाले हों। इस प्रकार चर्यापरिषह को सहन करने वाले साधु जयवंत रहें।।४३।।

विदचलीकृतचञ्चलमानसः, प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः।
बहुदृढासनसंयतकायक, स्तदनुपालितजीवनिकायकः।।

आत्मबोध पा पूज्य साधु ने चंचल मन को अचल किया,
मोह लहर भी शान्त हुई है मानस सरवर अमल जिया।
बहुविध दृढ़तम आसन से ही तन को संयत बना लिया,
जीव दया का पालन फलतः किस विध होता जना दिया।।४४।।

अर्थ – निषद्यापरिषह को सहन करने वाले मुनि कैसे होते हैं? – ज्ञान के द्वारा जिन्होंने चञ्चल मन को स्थिर कर लिया है जिनका हृदय मोहरूप तरंगों–मोहजनितविकल्पों से रहित है, अत्यन्त दृढ़ आसन से जिन्होंने शरीर को स्वाधीन कर लिया है और दृढ़ आसन होने से जिन्होंने जीव समूह की रक्षा की है, ऐसे मुनि निषद्यापरिषह को जीतने वाले होते हैं।।४४।।

चरणमोहकबन्धनहानये, रुचिमितश्च सदालसहा नये।
नदतटे च नगे विहितासन, ऋषिगणो जयताच्च्युतवासनः।।

संयम बाधक चरित मोह को पूर्ण मिटाने लक्ष बना,
बिना आलसी बने निजी को पूज्य बनाने दक्ष बना।
सरिता, सागर, सरवर तट पर दृढ़तम आसन लगा दिया,
त्याग वासना, उपासनारत 'ऋषि की जय' तम भगा दिया।।४५।।

अर्थ – चारित्रमोह रूप बन्धन का निराकरण करने के लिये जो व्यवहारचारित्ररूप नीतिमार्ग में रुचि–इच्छा अथवा श्रद्धा को प्राप्त हैं, सदा आलस को नष्ट करते रहते हैं, नदी, तट अथवा पर्वत पर आसन लगाते हैं तथा जिनकी विषयवासना छूट चुकी है ऐसे मुनियों का समूह जयवन्त रहे।।४५।।